(जीवनी)
पंडिता रमाबाई सरस्वती

19वी सदी में जब महिलाएँ अपनी स्वाधीनता खो चुकी थी, उन्होंने पुरुषों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। भारतीय समाज अपनी समानता की चमक खो बैठा था। समाज में महिलाओं के विरुद्ध अनेक कुरीतियाँ जन्म ले चुकी थी- सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा और विधवाओं के साथ अमानवीय व्यवहार जैसी कुरीतियाँ हमारे समाज में स्वीकार्य सी हो गई थी। महिलाएँ अपनी स्वतंत्रता और समानता भूल चुकी थी और वे स्वयं इसे माँगने से घबराती थी।

ऐसे विपत्तिपूर्ण समय में "पंडिता रमाबाई सरस्वती" एक उम्मीद की किरण बनी। उन्होंने समाज में व्याप्त सभी कुरीतियों को मानने से इनकार किया और महिला-शिक्षा, स्वतंत्रता एवं सशक्तिकरण जैसे विषयों की वकालत की। पर विडंबना इस बात की है कि आज हम उस नारी शक्ति की मिसाल को भूल चुके हैं। यह सवाल सार्थक है कि क्या हमें उनके जीवन के बारे में पता है? क्या हमें उनके जीवन की विशाल चुनौतियों का ज्ञान है? हममें से ज्यादातर का उत्तर होगा- नही!

22 वर्ष की उम्र में ही अपनी विद्वत्ता से "पंडिता" और "सरस्वती" की उपाधि पाने वाली पहली महिला की कहानी, यह है "पंडिता रमाबाई सरस्वती" की कहानी। इनका जन्म 22 अप्रैल 1858 को तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य की मद्रास प्रेसीडेंसी (मैसूर राज्य) में हुआ था। इनके पिता अनंत शास्त्री डोंगरे संस्कृत के विद्वान थे और माता लक्ष्मीबाई डोंगरे को भी संस्कृत का ज्ञान था। जिस सदी में रमाबाई का जन्म हुआ, उस समय लड़कियों का पढ़ना ज़रूरी नही समझा जाता था, विशेषकर शास्त्रीय ज्ञान। परंतु उनके पिता ने इन सब बातों को न मानते हुए रमाबाई को संस्कृत का विद्वान बनाया।

परंतु समाज में कुरीतियाँ कुछ इस प्रकार व्याप्त थी कि समाज को यह बदलाव स्वीकार नही हुआ। उन्हें घर और क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया गया। परिवार के पास खुद का घर न होने के कारण उन्हें कई स्थानों पर घूम-घूम कर अपना जीवन-यापन करना पड़ा। रमाबाई समाज की कुरीतियों को देख रही थी और महिलाओं के साथ हो रहे अत्याचारों को समझ रही थी। तभी 1877 में उनके माता-पिता की आकस्मिक मृत्यु हो जाती है। इसके बाद भी रमाबाई रुकती नही हैं और अपनी यात्रा को अपने भाई के साथ जारी रखती हैं। वे लगभग 4000 मील पैदल चलकर अपनी यात्रा पूरी करती हैं।

जब रमाबाई 1878 में कोलकाता आती हैं, तब पंडितों द्वारा उन्हें विश्वविद्यालय में भाषण के लिए बुलाया जाता है। उनके कार्य और संस्कृत के ज्ञान को देखते हुए उन्हें 'पंडिता' और 'सरस्वती' जैसी सर्वोच्च उपाधियों से नवाज़ा जाता है। रमाबाई का जीवन मुश्किलों से भरा रहा। 1880 में उनके भाई की भी मृत्यु हो जाती है। इसके पश्चात 1880 में ही उन्होंने एक बंगाली वकील (बिपिन बिहारी दास) से शादी की। रमाबाई ने तब अंतर्जातीय और अंतरक्षेत्रीय विवाह किया, जब समाज में लोगों को खाने से पहले जाति की चिंता हुआ करती थी। उनकी एक पुत्री हुई जिसका नाम "मनोरमा" था। अंतर्जातीय विवाह के कारण समाज उनके विवाह को अपवित्र मानता था और मनोरमा के जन्म को भी सामाजिक व पारंपरिक रूप से अनुचित माना गया। रमाबाई ने अपने पति के साथ मिलकर विधवाओं और शोषित महिलाओं के लिए स्कूल खोलने की योजना बनाई, परंतु समय को कुछ और ही मंजूर था। मात्र 23 वर्ष की उम्र में रमाबाई विधवा हो गई और एक अकेली माँ बन गई। चुनौतियाँ यहाँ भी खत्म नही हुई, बल्कि अब और बढ़ गई।

उन्हें पुत्री का पालन-पोषण और समाज सुधार, दोनों कार्यों में अकेलेपन का सामना करना पड़ा। रमाबाई बचपन से ही समाज में महिलाओं की दयनीय स्थिति देखती आ रही थी, जिससे उन्हें उनके प्रति कार्य करने की प्रेरणा मिलती रही।

उन्होंने पुणे में "आर्य महिला समाज" की स्थापना की और मुंबई में "शारदा सदन" बनाया। शारदा सदन का मुख्य उद्देश्य बाल विधवाओं को सुरक्षित आश्रय, शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करके उन्हें आत्मनिर्भर बनाना था।
रमाबाई ने सन् 1895-1897 तक के दो विकराल अकाल और सन् 1900 की भयानक प्लेग व हैजा महामारी का सामना किया। इसके बीच अपने पूरे परिवार को खो देने वाली रमाबाई दूसरों की मदद के लिए अंग्रेजी हुकूमत तक से भिड़ गई थी। उन्होंने अनाथ बच्चों, विधवाओं, लड़कियों और अकेली छोड़ दी गई स्त्रियों को न केवल महामारियों से बचाया, बल्कि उन्हें शिक्षा दी और इस काबिल बनाया कि वे अपनी स्वतंत्रता की बात कर सकें। रमाबाई ने उन सभी स्त्रियों को इस योग्य बनाया कि उन्हें पुरुषों के अधीन न होना पड़े।
आगे चलकर रमाबाई ने ईसाई धर्म को अपनाया क्योंकि उनका मानना था कि रूढ़िवादी हिंदू धर्म के शास्त्रों के अनुसार महिलाओं एवं शूद्रों के प्रति दमनकारी दृष्टिकोण, जातिगत भेदभाव और बाल विधवाओं के प्रति पुरुषों की संकीर्ण मानसिकता व्याप्त थी। वे कहती थी कि ईसाई धर्म में समानता, महिलाओं की शिक्षा और सामाजिक सुधार के लिए एक बेहतर मार्ग दिखा, जिससे उन्हें समाज में महिलाओं के उत्थान में मदद मिली। हालांकि, ईसाई धर्म में रूपांतरण के बावजूद भारतीय महिलाओं के प्रति उनका संघर्ष नही रुका। उनकी लिखी एक पुस्तक "द हाई-कास्ट हिंदू विमेन" (The High-Caste Hindu Woman) में रमाबाई ने बाल वधुओं और बाल विधवाओं सहित हिंदू महिलाओं के जीवन के सबसे काले पहलुओं को दिखाया और ब्रिटिश भारत में महिलाओं के उत्पीड़न को उजागर करने की कोशिश की।
रमाबाई का जीवन महिला समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ और आज हम उसी वरदान को भूल चुके हैं। रमाबाई अपने जीवन के संघर्षों को 5 अप्रैल 1922 को विराम देकर इस संसार से चली गई। हम सब आज 1922 में छोड़ के चली गई इस महान आत्मा को भूल चुके हैं। आज हममें से कितने लोग इनके बारे में जानते होंगे? शायद बहुत कम, परंतु आज हम जिस "नारीवाद" की बातें करते हैं, उसमें उनका योगदान अतुलनीय है। उनका इतिहास कही इतिहास के पन्नों में दब गया है। हमें इतिहास के पन्नों में उनका नाम बहुत कम नज़र आता है, परंतु कही न कही आज हम सब में उनके प्रतीक होंगे। हमें बस उस प्रतीक को पहचानने और उजागर करने की आवश्यकता है।
धन्यवाद!

अदिरा शर्मा
भूगोल विभाग
2024-28
241555